भी किया। तदनन्तर अर्थवश से कालवचन का अनादर करके मनुष्य मात्र के उपकारार्थ योग को अत्यन्त उपकारी जान के इस कपिलगीता की व्याख्या करके निजछात्र पण्डित वासुदेव त्रिपाठी से लिखवाया।" इसमें विशुद्धानन्दजी ने अपने गुरु का नाम उल्लिखित किया है—**तारक ब्रह्मानन्द सरस्वती**। ग्रन्थ के समापन का काल निर्दिष्ट है—संवत् १९४६ (१८८९ ई०) फाल्गुन कृष्ण पञ्चमी सोमवार।

'कपिलगीता' के प्रवक्ता योगीश्वर कपिल ऋषि हैं। यह पद्मपुराण के अन्तर्गत बतलाया गया है। इसमें पाँच अध्याय हैं। कपिलगीता आदि से अन्त तक योगशास्त्र के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उभयपक्षों से सम्बद्ध तत्त्वों का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत करती है। समस्त ग्रन्थ योग के पारिभाषिक शब्दों का भण्डार प्रतीत होता है। इसकी व्याख्या करने में योगशास्त्र के सिद्धान्त तथा व्यवहार उभयपक्ष का ज्ञाता व्यक्ति ही समर्थ हो सकता है और स्वामी विशुद्धानन्दजी में यह योग्यता प्रभूत मात्रा में थी। इसीलिए उनकी व्याख्या नितान्त सरल एवं प्रामाणिक है। स्वामीजी बड़े भारी योगी थे और कहा गया ही है कि देह त्यागने के समय जो प्रकार उपनिषदों में वर्णित है, उसी का अनुगमन कर उन्होंने अपना यह पाञ्चभौतिक शरीर छोड़ा था। फलत. वे इस गीता की व्याख्या करने के सर्वथा अधिकारी थे। एक ही उदाहरण यहाँ नमूने के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है।

प्रथम अध्याय का २३वाँ श्लोक है—

पिपीलिका विहङ्गश्च कपिमार्गो हि मीनकः।
शेषमार्गो हि संख्यायां पञ्चमार्गाः पुरातनाः॥

इसकी व्याख्या स्वामीजी के शब्दों में इस प्रकार है—"ये जो पञ्च मार्ग है उनमें पिपीलिका मार्ग यह है कि—वृक्ष के अग्र में जाय के भी पिपीलिका दो पाँव को उठावता है अवलम्ब मिले तो और बड़े शनैः-शनैः पूर्व भूमी का अवलम्बन करके उत्तर भूमी को अवलम्बन करता है ऐसे योगी अध ऊर्ध्व शून्य को अवलम्बन करके नि:शून्य में जाता है। विहगम मार्ग यह कहावे जो कि षट चक्रादिकों से अनपेक्ष योगी सप्तम चक्र जो पुण्याद्रि वहाँ मन को ले जाता है। कपि मार्ग वह कहावे जिस भूमि को जय कर्ता है योगी उसको नही छोड़ता जैसा कि कपि मुट्ठी में जो धरता उसको नहीं छोड़ता। मीन मार्ग वह कहावे जैसा की मीन उलटी धारा पर चलता है तैसा योगी मणिबल से अधो भाग से ऊर्ध्व भाग ब्रह्मरध्र तक जाता है। शेष मार्ग वह कहावे जैसा कि सर्प बिल में जाय के निष्क्रिय होयके वायु पीता है ऐसे ही योगी औट पीट अथवा पुण्याद्रि पर जाय के निष्क्रिय होता है।"—(कपिलगीता पृष्ठ १५-१६)

स्वामीजी की व्याख्या जैसी मुद्रित है वैसी ही ऊपर लिखित है। इसके पढ़ने से योग के इन सुप्रसिद्ध मार्गो का परिचय पूर्णतया मिलता है। साथ ही साथ हिन्दी के वाक्यों का प्रयोग तथा शब्दों की वर्तनी जिस प्रकार आज से नब्बे वर्ष पहले काशी के संन्यासियों द्वारा प्रयुक्त होती थी, उसकी भी एक झलक ऊपर के सन्दर्भ के अनुशीलन से मिल जाती है। इस भाषादृष्टि से भी इस पूरे ग्रन्थ का महत्त्व है।

स्वामी दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ

स्वामी विशुद्धानन्दजी के जीवन की महती उपलब्धि थी स्वामी दयानन्दजी के साथ शास्त्रार्थ-विचार में विजयश्री का वरण। यह महत्त्वशाली ऐतिहासिक शास्त्रार्थ काशी में दुर्गाकुण्ड के समीपस्थ राजा अमेठी के 'आनन्दबाग' में सम्पन्न हुआ था। दयानन्द स्वामीजी का आवास इसी स्थान पर था। फलत: शास्त्रार्थ का यही स्थल था। समय था १९२६ वि० सं० की

कार्तिक शुक्ला द्वादशी मंगलवार, तदनुसार १८६६ ई० १६ नवम्बर। ४८ वर्षीय काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह अध्यक्ष के स्थान पर अपने १४ वर्षीय राजकुमार प्रभुनारायण सिंह के साथ विराजमान थे। उनके प्रधान सभापण्डित ताराचरण तर्करत्न भट्टाचार्य महाराज के साथ उपस्थित थे। ये तर्करत्नजी साहित्य तथा न्याय के विशेष विद्वान् थे, अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे तथा महाराजा के धार्मिक कृत्यों के विमर्शदाता महनीय विद्वान् थे। काशी की विद्वन्मण्डली की ओर से दो ही प्रतिनिधि शास्त्रार्थ के लिए चुने गये थे—मनीषी योगिराज विशुद्धानन्द सरस्वती और पण्डिताग्रणी बालशास्त्री। ४५ वर्षीय स्वामी दयानन्द वेद-विरुद्ध तथा वेदों में अनिर्दिष्ट किसी भी धार्मिक सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका आग्रह था कि आजकल हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा, श्राद्ध आदि धार्मिक मान्यताएँ वेदविरुद्ध हैं। अतएव वे नितान्त अग्राह्य हैं।

काशी के पण्डितों के साथ इस शास्त्रार्थ का विषय था- मूर्तिपूजा। उस सभा में काशी के मान्य पण्डितों के सग में काशी की धार्मिक जनता प्रभूत सख्या में उपस्थित थी। इस शास्त्रार्थ मे सम्मिलित होने वाले चालीस विद्वानों के नाम वेदवाणी पत्रिका के प्रथम वर्ष (नवम्बर १९७०, पृ० १५) के अङ्क में दिये गये है वे यथार्थ हैं। ये पण्डित उस समय काशी में निवास कर रहे थे। पण्डितों के अतिरिक्त काशी के प्रख्यात रईस तथा कवि भारतेन्दु बाबू हरिश्च.. अपने अनुज गोकुलचन्द्रजी के साथ सभा में उपस्थित थे। काशी के बाहर के कुछ मान्य सज्जन थे। यह तो सब ठीक है, परन्तु जनता की उपस्थिति ६० हजार लिखी गई है—यह कुछ अत्युक्ति-सी प्रतीत हो रही है। काशीवासियों में इस शास्त्रार्थ की विशेष चर्चा थी ही। इसके दो प्रकार के विवरण उपलब्ध होते है—आर्यसमाज का तथा सनातनधर्म का। उस समय की मान्य प्रत्नकमनन्दिनी नामक संस्कृत मासिक पत्रिका में संस्कृत में एक विवरण निकला था जिसके आधार पर पण्डित मथुराप्रसाद दीक्षित (आगे चलकर वे महामहोपाध्याय हुए) ने **सच्चा काशी शास्त्रार्थ**[1] नामक हिन्दी पुस्तक १९१६ ईस्वी में प्रकाशित की थी। उसका पुनर्मुद्रण द्वितीय तथा तृतीय संस्करण के रूप में दो बार हुआ है (सन् १९६९ में तथा सन् १९७२ में) उसी के आधार पर यहाँ प्रस्तुत है —

शास्त्रार्थ का संक्षिप्त विवरण

समय— अपराह्न कार्तिक सुदी १२, स० १९२६।

स्थान— आनन्द बाग, दुर्गामन्दिर के समीप (वाराणसी)।

काशीनरेश—ने अपने सभापण्डित ताराचरण तर्करत्न को आदेश दिया कि शास्त्रार्थ आरम्भ कीजिए। मैं भी वादी तथा प्रतिवादी के कथनों का सारांश समझ कर पक्षपातशून्य होकर विचार को सुनने के लिए सावधान बैठा हूँ।

ताराचरण—(बोलने के लिए उद्यत होते है)।

दयानन्द— प्रतिमापूजन वेद में कहाँ लिखा हुआ है? उत्तर एक ही व्यक्ति एक बार दे।

ताराचरण—केवल वेद ही प्रमाण हैं और कुछ (स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थ) प्रमाण नहीं हैं। इसमें क्या प्रमाण है?

---

१. सम्पादक स्वामी केशवपुरीजी तथा प्रकाशक शक्तिप्रकाशन, संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी। प्रकाशन के लिए दोनों सज्जन धन्यवाद के पात्र हैं।

दयानन्द— वेद में जो नहीं मिलता है, वह अप्रमाण ही है, वह कथमपि प्रमाण नहीं है।

ताराचारण—क्यों ? अर्थात् जो वेद में न मिले, परन्तु स्मृति, पुराण आदि में उपलब्ध हो, वह प्रमाण क्यों न माना जाय ? इसमें प्रमाण क्या ?

दयानन्द— वेदविरुद्ध वस्तुओं का प्रमाण नहीं है।

ताराचरण—आपके इस कथन में क्या प्रमाण है ?

दयानन्द— इसमें प्रमाण है श्रुति एव मनुस्मृति।

ताराचरण—उसी को बताइए। जो वेदमन्त्र वेदातिरिक्त स्मृति, पुराण, इतिहास, सदाचार के प्रामाण्य का निषेधक है, उसे कहिए। अथवा मनुस्मृति का वह श्लोक ही बतलाइए जिसमें यह तथ्य प्रतिपादित है।

दयानन्द— प्रामाण्य विचार आगे होगा। इस समय प्रस्तुत वेदविचार कीजिए।

ताराचरण—कैसा वेदविचार करना चाहते हो ? वेद के नित्यत्व-अनित्यत्व का विचार अथवा वेद की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का विचार ?

दयानन्द— पत्थर की प्रतिमा का पूजन वेद मे है या नही ? यही विचार करना चाहिए।

ताराचरण—वेद के समान स्मृति आदि का भी प्रामाण्य हमें स्वीकृत है। पुराणादिकों में प्रतिमापूजन का विधान है। तब प्रतिमा का पूजन शास्त्र से सम्मत सिद्ध हो ही जाता है।

दयानन्द— वेद से अतिरिक्त प्रमाण नही होते। हम स्मृति तथा पुराण का प्रमाण नही मानते।

ताराचरण—आपके कथन का प्रमाण क्या है ? वेदविरुद्ध का प्रामाण्य क्यों नहीं स्वीकृत होता ?

दयानन्द— वेदविरुद्ध का प्रामाण्य नही होता।

ताराचरण—वेदविरुद्ध क्या है ? स्मृति, इतिहास आदि तो वेदविरुद्ध नही है। तब 'वेदविरुद्ध' किसे कहते है ?

दयानन्द— जो वेद में नही है, वह वेदविरुद्ध है।

ताराचरण—यह वेद का कथन है अथवा श्रीमान्‌जी का कथन है ?

दयानन्द— आपके प्रश्न का उत्तर मै पीछे दूँगा। प्रस्तुत बात यही है कि वेद में प्रतिमापूजन है या नही।

बालशास्त्री—वेद में अनुक्त वस्तु (जिसका कथन नही किया गया है) अप्रमाण है इस कथन में क्या हेतु है। इसका विचार आरम्भ में करना चाहिए।

दयानन्द— श्रुति, स्मृति आदि का मूल वेद है। मनु, कात्यायन, महाभारत आदि इसके प्रमाण हैं। जिस प्रकार मन्त्रादिकों का तथा वेदान्तमीमांसा के सूत्रों का मूल वेद है, उसी प्रकार प्रतिमापूजन का वेद में मूल दिखलाइए।

विशुद्धानन्द स्वामी—क्या बारम्बार आप कहते हैं कि वेदान्तसूत्रों का मूल वेद है।

यदि यह बात है तो बताओ 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रमाणम्' इस ब्रह्मसूत्र (२।२।१) का मूलभूत वेद कहाँ है ?

इसका उत्तर दयानन्द स्वामी से नहीं हो सका, उन्होंने स्वीकारा कि मुझे सब वेद कण्ठस्थ नही है। मै इसका उत्तर नही दे सकता। विशुद्धानन्दजी को लक्ष्य कर उन्होंने पूछा कि यदि आपको सब उपस्थित है, तो धर्म का लक्षण बताइये। इसके उत्तर में विशुद्धानन्दजी ने मीमांसासम्मत धर्म का लक्षण झट से कह दिया—**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**। जब उन्होंने धर्म के एक ही लक्षण होने की बात कही, तो दयानन्दजी बोल उठे—धर्म के दस लक्षण हैं। मनु ने लिखा है—**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयः** आदि। इस पर ताराचरणजी ने कहा—ये दसों धर्म के लक्षण थोड़े ही है, ये तो अनुमापक हेतु है।

दयानन्दजी ने इस पर क्रुद्ध होकर विशुद्धानन्दजी की ओर झुक कर पूछा—तुम बोलो स्वामी, धर्म में कौन श्रुति है अर्थात् धर्म के मानने में कौन वेद का आधार है। विशुद्धानन्दजी झट बोल उठे—अग्निहोत्र जुहोति आदि। दयानन्द स्वामी ने देखा कि शास्त्रार्थ बढ़ता चला जाता है। अत· उसे समाप्त करने की दृष्टि से उन्होंने अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं दिया कि वेद में प्रतिमापूजन का कही विधान नही है। सामवेद में केवल एक बार प्रतिमा का निर्देश है, परन्तु वह इस भूलोक की बात न होकर ब्रह्मलोक की बात है।

[यह निर्देश सामवेद के षड्विश ब्राह्मण के पञ्चम प्रपाठक के दशम खण्ड में उपलब्ध है 'यदाऽस्यामुक्तानि यानानि वर्तन्ते' आदि। इसका अर्थ है कि बैलों के बिना गाड़ी अपने आप चलने लगे अथवा देवता की प्रतिमा हँसती हो, रोती हो, गाने लगे, नाचने लगे, आँख निकाल कर देखने लगे या आँखें मीचने लगे, तब 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र से खीर की आहुति देनी चाहिए। इसके स्वामीजी ब्रह्मलोकपरक होने में प्रसंग तथा सन्दर्भ को कारण मानते है। यह 'अद्भुत शान्ति' का प्रकरण षडविंशब्रा० में है। ऊपर निर्दिष्ट अद्भुत अर्थात् उत्पात (असाधारण घटना) घटित होने पर लोगों को शान्ति करनी चाहिए।]

ब्रह्मलोकपरक होने की बात कहने पर बालशास्त्री ने आपत्ति उठाई। आप जैसा तात्पर्य समझ रहे है, वैसा तात्पर्य नही निकलता। आपके दिये उद्धरण में अन्वावर्तन शब्द आया है। इसका अर्थ है—'अनु=अनुलक्ष्यीकृत्य आवर्तनम्' अर्थात् ब्रह्मलोक में जब उपद्रव हो, तब उसके लिए शान्ति करनी चाहिए। कहाँ ? इस मर्त्यलोक में ही तो। जब उनसे पूछा गया कि ब्रह्मलोक में कौन करेगा ? तब उन्होंने बताया—स्वर्ग आदि लोक में इन्द्रादिक देवता हैं या नहीं ? इस पर विशुद्धानन्दजी ने कहा कि मन्त्रमयी देवता अर्थात् देवता मन्त्रात्मक होते है। इन्द्र आदि देवता के तत्तत् वैदिक मन्त्र ही स्वरूप हैं, उनकी देह होती ही नही, तब शान्ति करेगा ही कौन ? इस पर दयानन्दजी ने उपासना की बात उठाई। उपासना ऐसे देवता की कैसे होती है ? विशुद्धानन्द —प्रतीकोपासना ही होती है। वेद की सहस्र से ऊपर शाखाएँ हैं। उन्हीं किसी में यह रहस्य उद्घाटित है।

दयानन्दजी ने कहा—प्रतिवेद की केवल एक ही शाखा है। विशुद्धानन्दजी के द्वारा कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा की बात पूछने पर स्वामीजी ने कहा कि मार्गप्रवर्तक होने से ऐसी शाखा हुई। इस पर काशीनरेश ने अपने अमात्यमण्डल की ओर लक्ष्य कर कहा—ऐसा भी क्या कभी होता है कि मार्ग के प्रवर्तक के नाम पर वेद की शाखा हो ?

विशुद्धानन्दजी—वेद अपौरुषेय हैं, तब इनका प्रवर्तक कौन है ? इसके उत्तर में दयानन्दजी ने कहा—वेदों का प्रवर्तक ईश्वर ही है। इस उत्तर पर विशुद्धानन्दजी ने पूछा—किस

प्रकार के ईश्वर में वेद रहते हैं—नित्य-ज्ञान-विशिष्ट ईश्वर में ? (न्याय) अथवा योगसिद्ध क्लेशादिशून्य ईश्वर में ? अथवा वेदान्तमतानुसारी सच्चिदानन्द ईश्वर में ? दयानन्दजी ने कुछ रोष में आकर अपनी पीठ से विशुद्धानन्दजी का हाथ हटाकर कहा कि तब आपने सब पढ़ लिया है। इसका स्वीकारात्मक उत्तर देने पर विशुद्धानन्दजी से आँखें लाल करके गरजकर पूछा—तब तो आपने व्याकरण भी पढ़ लिया है। बताइये—'कल्म' संज्ञा किसी की होती है ? इसके उत्तर में महावैयाकरण बालशास्त्री तुरन्त बोल उठे—"पतञ्जलि के महाभाष्य में एक स्थान पर परिहास में ही कल्म संज्ञा कही गई है, परन्तु यह प्रकृत संज्ञा नहीं है (आशय यह है कि पाणिनीय व्याकरण की संज्ञाओं का वास्तव उपयोग होता है। वे पद की साधुता में उपकारक होती हैं। 'कल्म संज्ञा' इस प्रकार की नहीं है। अतएव उसकी चर्चा करना अनावश्यक और असामयिक है)। प्रकृत विचार में संलग्न होकर आप अप्रकृत की चर्चा क्यों करते हैं ? प्रकृत विचार है पुराणों की वेद-विरुद्धता। तो इसी को सिद्ध कीजिए। अन्य चर्चा की क्या जरूरत ? इस पर दयानन्दजी (सम्हल कर बैठ) पूछने लगे—पुराणों में ही म्लेच्छ भाषा के अध्ययन का निषेध है। वेद में कहाँ है ? बतलाइये। बालशास्त्री ने झट से उत्तर दिया—**न म्लेच्छितवै नापभाषितवै** अर्थात् म्लेच्छ भाषा न बोले और अपशब्द नहीं कहे—यही वैदिक वाक्य का प्रमाण है। इसका अर्थ विशुद्धानन्दजी ने किया कि शूद्र श्मशान के तुल्य होता है। अतः शूद्र के समीप वेद न पढ़ना चाहिए। दयानन्दजी ने आरोप लगाया—यह संहिता है या ब्राह्मण ? पुस्तक मँगाइये तो निर्णय हो (यह ब्राह्मण का वाक्य है। दयानन्दजी प्राचीन परम्परा का उल्लंघन कर इसे वेद नहीं मानते थे)।

जब दयानन्दजी ने वेदान्ताभिमत ईश्वर में वेद का निवास बताया, तब विशुद्धानन्दजी ने कहा कि सच्चिदानन्द तो निराकार ब्रह्म है, उसमें वेदों का रहना कैसे सम्भव हो सकता है ? इस पर कुछ वाद-विवाद चला।

किसी विषय का प्रमाण खोजने के लिए दयानन्द स्वामी ने काशीनरेश से वेद की पुस्तक लाने को कहा, तो महाराज ने सिर नीचा कर कहा—पण्डितों को तो सब कण्ठस्थ ही है, पोथी की क्या जरूरत ? आगे चलकर पुराणों की वैदिकता का प्रसंग उपस्थित हो गया। दयानन्दजी का कहना था कि जहाँ वेदों में 'पुराण' शब्द आया है, वहाँ वह विशेषण है। पुराण का प्रामाण्य है ही नहीं। इस पर माधवाचारी ने तैत्तिरीय श्रुति का प्रमाण उद्धृत किया—

यदा गच्छन् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणुतादाविरस्मै ।

यहाँ 'पूर्त' शब्द पौराणिक विधि-विधान को संकेत करता है। वापी-तडाग आदि की पूर्त संज्ञा है। बताइए वापी आदि की उत्सर्गविधि कहाँ है ? पुराण में या वेद में ? पुराण में ही तो इस विधि का वर्णन है। फलतः श्रुति पुराण का सद्यः संकेत करती है।

दयानन्दजी ने पूर्त का यह अर्थ नहीं स्वीकारा। तब माधवाचारी ने कहा—वेद में साक्षात् रूप से भी पुराण शब्द प्रयुक्त है—

अजाह्ये ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पं गाथा नाराशंसीमेवाहुः ।

दयानन्दजी ने यहाँ 'पुराणानि' को 'ब्राह्मणानि' का विशेषण ही माना, स्वतन्त्र विशेष्यपद नहीं। इस पर विशुद्धानन्दजी का कहना था कि बीच में व्यवधान होने से यह दूरान्वय है। अतएव यह पद विशेषण नहीं हो सकता। दयानन्दजी ने उत्तर में कहा कि व्यवधान कोई हानि नही करता—अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे यहाँ दूरान्वय तथा व्यवधान होने पर कोई क्षति नहीं है। इस पर विशुद्धानन्दजी का उत्तर

था कि इस वाक्य में सब शब्द विशेषण पद हैं, विशेष्य पद के अभाव में वहाँ व्यवधान नहीं है। जब दयानन्दजी ने छान्दोग्य का यह वचन दिखा कर ऋग्वेदं विजानाति..... इतिहासपुराणं, पुराण को विशेषण ही माना तो इस पर सब सभासद सिर हिलाकर कहने लगे—यह ठीक पाठ नही है, पाठ है इतिहासः पुराणम्। 'पुराणं' इतिहास का विशेषण हो नहीं सकता। क्योंकि यदि यह विशेषण होता, तो विशेष्य का समानलिंगी होता। पुंलिंग 'इतिहास' शब्द का विशेषण होने पर 'पुराण' को भी (पुराणः) पुँलिंग ही होना चाहिए, पुराण नहीं। इस कथन पर दयानन्दजी आत्मविश्वास से गर्जते हुए बोल उठे—

इतिहासपुराणः इत्येवमेव पाठः इति। नोचेत् मत्पराजयः, अन्यथा युष्माकं पराजय इति लिख्यताम्।

अर्थात् 'इतिहासपुराण·' यही पाठ है। यदि 'इतिहासः पुराण' निकल आवे, तो मेरी पराजय। यदि ऐसा न निकले तो आप लोगो की पराजय—इसे लिख लो। आत्मविश्वास से उद्भावित उनकी यह अन्तिम घोषणा थी। इस पर माधवाचारीजी ने शतपथब्राह्मण के अश्वमेध के प्रकरण का वह अश दिखला दिया जिसका अन्तिम अश है—**तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति। किञ्चित् पुराणमाचक्षीत। एवमेवाध्वर्युः संप्रेषयति। न प्रक्रमान् जुहोति।**

'पुराणं वेद' इस पाठ को देखकर दयानन्दजी ग्रन्थ का पन्ना अपने हाथ में लेकर उलट-पुलट कर बहुत देर तक देखते रहे और उसे लौटा कर चुप बैठ गये।

यह ऐतिहासिक शास्त्रार्थ यही समाप्त हो गया। इस शास्त्रार्थ में बीच-बीच में इतने विषय उठते गये कि उन्ही के विमर्श में समय बीत गया। मूल प्रश्न के समाधान के प्रति विद्वानों का ध्यान ही नही गया। शास्त्रार्थ करने वाले पण्डितों के साथ श्रीदयानन्दजी का सौहार्द सदा बना रहा।

एक दिव्य संस्मरण

स्वामीजी का महाप्रयाण[१]

वाराणसी धाम के सुप्रसिद्ध दण्डी स्वामी परमहस परिव्राजकाचार्य श्रीमत् स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती ने सन् १८९८ ई० के वैशाख मास में अहल्याबाई घाट पर अपने आश्रम में ८० वर्ष की वयस् में भौतिक देह का परित्याग कर निर्वाण प्राप्त किया था। उनके वेदान्त शास्त्र के अगाध पाण्डित्य की प्रशसा आज भी समस्त भारत के विद्वान् करते है, उनकी सर्वतोमुखी असाधारण प्रतिभा की बातें वृद्ध विद्वानों से सुनकर शिक्षित युवक विस्मित हो जाते है, परन्तु आज इस लेख में उन सब बातों की आलोचना नहीं की जाती। उनके आध्यात्मिक जीवन में ऐसी अनेकों आश्चर्यमयी घटनाएँ हैं, जिनकी आलोचना करने से हिन्दू मात्र के आध्यात्मिक जीवन मे नवीन प्रकाश की किरणें प्रसारित होंगी और भारतीय साधु-महात्माओं के प्रति श्रद्धा-भक्ति बढ़ेगी।

प्राक्तन पुण्यबल से मुझे लगातार दस वर्ष तक उनके चरणों में बैठकर पूर्व और उत्तरमीमांसा पढ़ने का दुर्लभ सुयोग प्राप्त हुआ था। अध्ययन आरम्भ करने के समय मेरी उम्र बीस वर्ष की थी। स्वाध्याय तिथियों में प्रतिदिन दो-से तीन-साढ़े तीन बजे तक मेरा पाठ चलता। एक दिन वर्षाकाल में श्रावण के अन्त में लगभग तीन बजे मैं अध्ययन कर रहा

१. श्री प्रमथनाथ तर्कभूषणजी का यह लेख 'चिन्तामणि' के किसी पुराने अंक में प्रकाशित हुआ था। इस महत्त्वपूर्ण लेख को प्रकाशनार्थ सुलभ करने के लिए स्वामी अखण्डानन्दजी धार्मिक जनता के धन्यवाद के पात्र है। इसके लिए मैं उनका आभार मानता हूँ।